

भारत में ग्रामीण विकास तथा पंचायती राज : एक ऐतिहासिक अध्ययन

रश्मि राज*

भारत की आजादी के साथ ही योजनाबद्ध विकास की अवधारणा के प्रति राष्ट्र संकल्पित था। आयोजना प्रक्रिया की जटिलता के मद्देनजर नीतियों तथा संस्थाओं का एक वृहत ढाँचा के साथ-साथ उसके क्रियान्वयन हेतु एक प्रभावकारी तंत्र की जरूरत महसूस की गयी। आयोजना की समावेशी प्रकृति ने भी विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए समेकित / एकीकृत सांस्थानिक तंत्र को आवश्यक माना। जिला बोर्ड तथा ग्राम पंचायतों के रूप में स्थानीय स्व-शासन की संस्थाओं को एक समान कार्य करने के लिए एकीकृत किया जाना था। इस संस्थाओं को ग्रामीण विकास की संस्थाओं के रूप में देखा जाने लगा जो संस्थागत परिप्रेक्ष्य को व्यापक बना दिया। प्रशासनिक दृष्टि से 'जिला' जिसकी पैदाइश 18वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्याश में हुई थी, स्थानीय प्रशासन की मूलभूत इकाई हो गयी है। 'क्षेत्रीय प्रशासन' की इस स्थानीय इकाई की उत्पत्ति कुछ लेखकों ने मौर्यवंश के राजाओं, गुप्त साम्राज्य तथा राजस्व प्रशासन की मुगल व्यवस्था से माना है¹ परंतु ब्रिटिश प्रशासन के मूलभूत इकाई के रूप में 'जिला' का आरंभ 1772 में कलक्टर की नियुक्ति के साथ हुई।² कॉर्नवालिस व्यवस्था तथा मुनरों व्यवस्था के रूप में स्थानीय प्रशासन के प्रतियोगी मॉडल्स के परिणामस्वरूप कलक्टर की वास्तविक भूमिका उजागर हुआ³ एवं 1857 के बाद ब्रिटिश प्रशासन के एक शक्तिशाली इकाई के रूप में स्थायी कर दिया गया। बाद में फेमिन कमीशन तथा डीसेंट्रलाइजेशन कमीशन के प्रबोधन तथा स्वतंत्रता आंदोलन की प्रगति से उत्पन्न कानून व्यवस्था के बढ़ते महत्व ने जिला को क्षेत्रीय प्रशासनिक इकाई का केंद्र बना दिया जिसके दो मुख्य प्रशासनिक उद्देश्य थे, यथा, राजस्व की वसूली तथा कानून व्यवस्था का अनुरक्षण।

जिला के नीचे की राजस्व इकाइयाँ तालुका या तहसील तथा ग्राम थे। 'लाइन' प्रशासन का प्रभार जिला कलक्टर के पास था जिस कारण उसे काफी शक्ति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होते थे। स्वतंत्रता के बाद भी स्थानीय प्रशासन की ये इकाइयाँ अक्षुण्ण रहे।

एक तरफ स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं के रूप में जिला बोर्ड, ग्राम पंचायत तथा म्युनिसिपल संस्थाएँ एवं दूसरी तरफ जिला, तालुका (तहसील) तथा ग्राम जैसे स्थानीय प्रशासन की इकाइयाँ पूर्ण विकसित संस्थाओं के रूप में उद्भूत हो गए जो

एक दूसरे के समानांतर थे। जबतक स्थानीय मामलों के प्रबंधन में राजस्व वसूली तथा कानून व्यवस्था अनुरक्षण की प्रमुख रही तब तक कलक्टर का संपूर्ण नियंत्रण ठीक से काम किया। लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं द्वारा स्थानीय संस्थाओं में भागीदारी तथा नियंत्रण में वृद्धि के साथ ही स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं और स्थानीय प्रशासन के बीच संघर्ष उत्पन्न होने लगे।⁴

इस तरह विकेंद्रित संस्थाओं का तर्क महत्वपूर्ण रूप से दो दिशाओं में परिवर्तित हो गए। प्रथम, नई माँगों तथा नए दिग्विन्यास की अपेक्षा रखते हुए स्थानीय प्रशासन का तर्क और मूलाधार 'राजस्व वसूली' तथा 'कानून और व्यवस्था' से परिवर्तित होकर 'विकास' हो गया। द्वितीय, आयोजना की प्रक्रिया को स्थानीय स्वशासन तथा स्थानीय प्रशासन की संस्थाओं को एकीकृत करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। किसी भी तरह यह एक आसान कार्य नहीं था। जिला कलक्टर की स्थिति तथा भूमिका एवं जिला, ग्राम और तालुका या तहसील या प्रखंड जैसे मध्यवर्ती इकाइयों के बीच विकेंद्रीकरण की प्राथमिक इकाई का चयन के मुद्दे विगत चार दशकों में विकेंद्रीकरण पर विचार-विमर्श का प्रमुख विषय बन गया है।

ग्रामीण विकास आयोजन एवं पंचायती राज का अविर्भाव-1920 के दशक से ही ग्रामीण विकास को भारत में प्राथमिकता प्राप्त हुई थी एवं देश के विभिन्न भागों में तत्संबंधी बहुत सारे कार्यक्रम तथा प्रयोग विद्यमान थे जिनमें टैगोर का 'शांतिनिकेतन' प्रयोग, केरल में हैच का 'मर्टाडम' प्रयोग, गाँधी का 'वार्धा' और 'साबरमती' प्रयोग, ब्राउन का 'गुडगाँव' प्रयोग, कृष्णमचारी का 'बड़ौदा' प्रयोग, एवं मद्रास में फिरका विकास योजना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पुनश्च अलबर्ट मेयर का इटवा परियोजना तथा एस० के० डे का निलोखेरी प्रयोग भारत की स्वतंत्रता से सम्बद्ध थे।

लेकिन ग्रामीण विकास का सबसे सुव्यवस्थित प्रयास प्रथम पंचवर्षीय योजना के तहत संयुक्त राज्य अमेरिका की सौजन्यता से 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम से शुरू हुई एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा प्रखंडों का राष्ट्रव्यापी जाल ग्रामीण विकास हेतु प्रशासन का तब तक की सबसे विस्तृत विकेंद्रित योजना थी जिसने प्रशासन की पुरानी शैली और दिग्विन्यास को बदलते हुए जनसहभागिता के तत्व को शामिल कर एक नए विकास प्रशासन की संरचना को स्थापित किया। इस प्रकार ग्रामीण पुनर्निर्माण की अवधारणा को त्यागकर 'कार्यपालक पद्धति' के बदले 'विस्तार' पद्धति को अपनाया गया।

विकास की प्रशासनिक संरचना में दो स्तर-जिला तथा ग्राम-तो पहले से ही मौजूद थे, एक मध्यवर्ती स्तर के रूप में प्रखंड की रचना की गयी। पाँच वर्ष बाद जब सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन बलवंतराय मेहता समिति द्वारा की गयी जिसने उपरोक्त कार्यक्रम की विफलता हेतु लोगों को जिम्मेवार ठहराया जो कार्यक्रम में अपनी सहभागिता नहीं दे सके। मेहता समिति ने अपने प्रतिवेदन में उल्लेख किया-

*शोध छात्रा, इतिहास विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

‘उत्तरदायित्व तथा शक्ति के बिना विकास की प्रगति नहीं हो सकती है। सामुदायिक विकास तभी वास्तविक हो सकता है जब समुदाय अपनी समस्याओं को समझे, अपनी जिम्मेदारियों को महसूस करे, अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से आवश्यक शक्तियों का उपयोग करे तथा स्थानीय प्रशासन पर स्थायी और बुद्धिपूर्ण निगरानी रखे। इस उद्देश्य के साथ हम एक सांविधिक निर्वाचित निकायों की तुरंत स्थापना हेतु अनुशांसा करते हैं जिसे अपेक्षित संसाधन, शक्ति और अधिकार सौंपा जाय।⁵

तदनुसार सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अनुपूरक के रूप में राष्ट्रीय विकास परिषद ने 1958 में प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की त्रि-स्तरीय योजना को अनुमोदित कर दिया। इस प्रकार 1959 में राजस्थान और आंध्र प्रदेश में पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना हुई जिसे अन्य राज्यों ने भी तुरंत अनुसरण किए। ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद क्रमशः ग्राम, प्रखंड तथा जिला स्तर पर गठित किए गए। जबकि ग्राम पंचायत और जिला पार्षद पहले से ही स्थानीय सरकार की इकाइयों के रूप में कार्यरत थे, प्रखंड विकास समितियाँ जो प्रखंड स्तर पर परामर्शदात्री निकायों के रूप में मौजूद थे, को पंचायत समितियों में परिवर्तित कर दिया गया। चूँकि विकेंद्रीकरण की योजना को विकास के कार्यक्रमों को सुविधा प्रदान करने के साधन के रूप में समझा जाता था, प्रखंड स्तर पर पंचायत समिति का मध्य-स्तर ‘पंचायती राज के संपूर्ण योजना में आधारभूत संस्था’ हो गया।⁶

पंचायती राज की त्रि-स्तरीय संरचना को सभी राज्यों ने स्वीकार किया, हालाँकि प्रत्येक राज्यों ने उसमें थोड़ा सा परिवर्तन प्रस्तुत किए। पंचायती राज निकायों के गठन में राज्यों ने विभिन्न प्रतिमानों का अनुसरण किए। ग्राम पंचायत के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते थे, परंतु पंचायत समिति का गठन ग्राम पंचायत के मुखिया/सदस्यों द्वारा होता था। उसी प्रकार जिला परिषद का गठन पंचायत समिति के प्रमुख/सदस्यों के द्वारा होता था, केवल महाराष्ट्र में जिला परिषद के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते थे। संगठनात्मक एकीकरण हेतु पंचायती राज निकायों में उस क्षेत्र के विधायकों तथा सांसदों को भी शामिल किया जाता था। इस प्रकार ‘पंचायती राज योजना ने विकास की अनिवार्यता के साथ स्थानीय स्तरों पर प्रजातांत्रिक संस्था प्रदान करने के प्रयास को जोड़ने का काम किया।⁷

1970 के दशक में सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा पंचायती राज को दुर्बल बनाते हुए ग्रामीण विकास हेतु क्षेत्रीय प्रशासन की रणनीति बदल गयी। गहन क्षेत्रीय विकास (आइ० ए० डी० पी०) रणनीति, ‘लक्षित समूह’ उपागम तथा विकास हेतु विभागीय संचालन अपना कर ‘लाइन’ प्रशासन पर बल ने प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की योजना को ग्रसित कर दिया। भारतीय राजनीति में सत्ता का केंद्रीकरण की उभरती हुई प्रवृत्ति एवं संघीय सरकार द्वारा राज्य स्तर की संस्थाओं, प्रक्रियाओं तथा नेतृत्व की उपेक्षा के कारण पंचायती राज संस्थाओं का पतन हो गया।

पंचायती राज का संवैधानिकीकरण : विकेंद्रित अभिशासन के नए आयाम—पंचायती राज को संवैधानिक स्वीकृति प्रदान करने हेतु सबसे पहला औपचारिक प्रस्ताव अशोक मेहता कमिटी (1978) का था जिसने इसे राज्य स्तर के नीचे प्रजातांत्रिक निकायों के रूप में स्थापित करने तथा राज्य सरकार द्वारा इसे यथेष्ट शक्तियाँ तथा संसाधनों को सौंपने के सुझाव दिए। सरकारि कमीशन (1983) ने भी विकेंद्रीकरण की अत्यावश्यकता को रेखांकित करते हुए पंचायती राज को संवैधानिक स्वीकृति प्रदान करने हेतु संवैधानिक संशोधन पर बल दिया। आर्थिक परामर्शदात्री परिषद (1983) ने भी प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की अपरिहार्यता को स्वीकार किया। आयोजना प्रदान करने हेतु पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा देने के लिए 64वाँ संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तावित किया जो 1989 में परित नहीं हो सका। बाद में संविधान के 73 वें तथा 74 वें संशोधनों द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। तदनन्तर विभिन्न राज्यों द्वारा समुनुरूप अधिनियम पारित किए गए।⁸

संवैधानिक संशोधन, 1992 को विकेंद्रित अभिशासन की व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण युगान्तरकारी घटना के रूप में स्वागत किया गया। पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक गारंटी प्रदान करना अपने आप में एक बहुत बड़ा कदम था जिसकी माँग बहुत पुरानी थी। पंचायतों का एक निश्चित कार्यकाल एवं राज्य निर्वाचन आयोग के पर्यवेक्षण में एक उचित समय पर चुनावों को आयोजित करना एक बहुत बड़ा कदम था। इसके अलावे अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों का उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण तथा महिलाओं का विभिन्न पदों पर एक-तिहाई आरक्षण प्रदान किया गया। महिला ‘सशक्तिकरण’ के दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम है जिसकी बहस विगत दो दशकों से प्रबल रूप से हो रही थी।⁹ पंचायती राज की वित्तीय व्यवहार्यता को सुनिश्चित करने हेतु राज्यों में एक वित्त आयोग स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण प्रावधान है।

परंतु भारत के उच्चतम विधि द्वारा सुनिश्चित इन प्रावधानों को पंचायती राज को ठोस आधार प्रदान करने में एक लंबी रास्ता तय करनी है। पंचायती राज को ‘राजनीतिक’ महत्व प्रदान करने तथा इन संस्थाओं को शक्ति तथा वित्त सौंपने में राज्य सरकार की अनिच्छा से उत्पन्न समस्याओं के निदान हेतु भी संशोधनों में प्रावधान किए गए हैं। संशोधनों तथा समनुरूप अधिनियमों के विद्वत विश्लेषण में निष्कर्ष किया गया है कि ‘कार्यात्मक तथा वित्तीय हस्तांतरण का उद्देश्य स्व-शासन की भावना को रक्षित करने के अपेक्षाकृत विधि-पत्र को संतुष्ट करना है।¹⁰ कानूनी प्रावधानों के कार्यान्वयन में कुछ कमी उजागर हुए हैं। जिसके लिए ‘अतिरिक्त संशोधनों’ की आवश्यकता है। राजीव गाँधी फाउन्डेशन के तत्वावधान में विभिन्न राज्यों के पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकरण का एक विस्तृत अध्ययन किया गया है जिसमें 73 वें तथा 74वें संशोधन

नों के प्रभावकारी क्रियान्वयन में उत्पन्न समस्याओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए उपयोगी तथा दिलचस्प सुझाव दिए गए हैं।¹¹

इस तरह 1992 के संवैधानिक संशोधनों से प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण के तीसरे चरण की शुरुआत हो गयी जिसमें विकेंद्रीकरण के उपायों की चर्चा तो है परंतु उसके परिचालन में उत्पन्न होने वाली जटिल बहुविध समस्याओं का विवरण नहीं है। विकेन्द्रकरण को राज्य सरकारों के परिवर्तनशील अधिमानताओं पर छोड़ दिया गया है। तथापि पर्याप्त संसाधनों को सुनिश्चित करने का प्रश्न तथा अपेक्षित प्रशासनिक समर्थन पर ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि पंचायती राज संस्थाएँ प्रभावकारी अभिशासन के विकेंद्रित इकाइयों के रूप में कार्य कर सकें।

संदर्भिका :

1. राय, हरिद्वार-‘इन्सटीच्युशन ऑफ डिस्ट्रीक्ट कलक्टर’, दी इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वाल्यूम ग्पे अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 1965, पृ० 644-46
2. मिश्रा, बी० बी०-‘दी इवोल्यूशन ऑफ दी ऑफिस ऑफ कलक्टर (1770-1947), दी इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वाल्यूम-XI, अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 1965
3. सच्चिदानन्द-दी डिस्ट्रीक्ट ऑफिसर इन बिहार डियुरिंग ब्रिटिश रूल (अनुलिपित्र), ए० एन० सिन्हा सामाजिक अध्ययन संस्थान, पटना
4. झा०, एस० एन०-लीडरशिप एंड लोकल पॉलिटिक्स : ए स्टडी ऑफ मेरठ डिस्ट्रीक्ट इन उत्तर प्रदेश, पोपुलर प्रकाशन, बंबई, 1979
5. अशोक मेहता कमिटी रिपोर्ट, रिपोर्ट ऑफ दी कमिटी ऑन पंचायती राज इंस्टीचुशन्स, भारत सरकार, कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय, ग्रामीण विकास विभाग, 1978, पृ० 2-3
6. मेहता, बी०-‘दी पंचायत समिति एट दी ब्लॉक लेवल एज दी बेसिक यूनिट ऑफ पंचायती राज’, दी इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वाल्यूम टप्प्पे अंक 4, अक्टूबर-दिसम्बर, 1962, पृ० 472
7. लेले, जयंत के०- रोल ऑफ लोकन गवर्नमेंट इन रूरल डेवलपमेंट, पीएच० डी० थीसीस, कॉर्नेल यूनिवर्सिटी, 1965, पृ० 18-19
8. इंस्टीच्यूट ऑफ सोशल साइंसेज-पंचायती राज अपडेट, जूलाई- अक्टूबर, नई दिल्ली, 1998
9. सेमिनार, इम्पावरिंग वीमन : ए सिम्पोजियम ऑन पोलिटिकल रिजर्वेशन फॉर वीमन, सितम्बर, 1997

10. मीनाक्षी सुंदरम, एस० एस० - ‘दी 73ड कन्सटीचूशनल एमेंडमेंट : ए केस फॉर फरदर एमेंडमेंट’, जर्नल ऑफ रूरल डेवलपमेंट वल्यूम 16, अंक 4, अक्टूबर-दिसम्बर, 1997
11. राजीव गाँधी फाउन्डेशन-रिवायटलाइजिंग ऑफ पंचायती राज इन इंडिया: प्रॉब्लेम्स एंड प्रॉसपेक्ट्स, टास्क फोर्स ऑन पंचायती राज, नई दिल्ली, 1997

